शिक्षा में जन सहभागिता का प्रश्न

❑ राजाराम भादू

कुछ महीने पहले लोक जुम्बिश परिषद्, जयपुर के निदेशक ने एक शैक्षिक संवाद में बताया कि दो विकास खंड़ों में लोगों ने अपने बच्चों को न्यूनतम अधिगम स्तर के अन्तर्गत तैयार की गयी पुस्तकें पढ़ाये जाने का विरोध किया। इन विकास खंड़ों में सरकारी स्कूल लोक जुम्बिश परियोजना के तहत संचालित हो रहे थे। इसी के साथ लोक जुम्बिश द्वारा संचालित अनौपचारिक शिक्षा के केन्द्र थे । लोक जुम्बिश में इन्हें सहज शिक्षा केन्द्र कहा जाता है । लोक जुम्बिश शिक्षा कार्यक्रम में प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के लिए न्यूनतम अधिगम स्तर (एम. एल. एल.) को अपनाया गया है। इसमें बच्चों को सिखाने के लिये विभिन्न दक्षताओं पर आधारित पुस्तकें तैयार की गयीं । इन विकास खंड़ों में गांवों के लोगों को ये शिकायत थी कि उनके बच्चों को राज्य सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा निर्धारित पाठ्यपुस्तकों की जगह ये पुस्तकें पढ़ाई जा रही थीं। इस विरोध में लोकजुम्बिश कर्मियों के प्रयासों से गठित ग्राम शिक्षा समिति के वे लोग भी शामिल थे जो अभी तक शिक्षा प्रसार और स्कूल-केन्द्रों के संचालन में मदद करते रहे थे । यह विरोध इतना तीव्र था कि एकाध जगह तो लोगों ने स्कूल में ताले डाल दिये ।

लोगों के इस रवैये पर 'न्यूनतम अधिगम स्तर' को सही ठहराने वाले लोगों को खीझ हो सकती है। दूसरी ओर न्यूनतम अधिगम स्तर के आलोचकों को प्रसन्नता हो सकती है कि लोग इसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं। शिक्षा में आम लोगों की सहभागिता पर सोच-विचार करने वाले शिक्षाविद्ों को भी लोगों का यह रुख उत्साहित अथवा निराश कर सकता है । लेकिन लोगों की इस तरह की प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण के जरिये ही हम शिक्षा में सहभागिता के प्रश्न को समझ सकते हैं । इन विकास खंड़ो में लोग चाहते थे कि उनके बच्चों को प्राथमिक शिक्षा मिले । वे इसके लिए कार्यक्रम को अपेक्षित सहयोग देने के लिए भी तैयार थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि उनके बच्चों को राज्य सरकार द्वारा निर्धारित पाठ्य पुस्तकें नहीं पढ़ाई जा रहीं तो वे नाराज हुए । उनकी जानकारी में यही पुस्तकें 'मान्यता प्राप्त' हैं । असल में, वे अपने बच्चों को वही शिक्षा दिलाना चाहते हैं जो सरकार द्वारा 'अधिकृत और मान्य' है । इस तरह वे अपने बच्चों को 'शिक्षा की मुख्य धारा' में लाना चाहते हैं । यदि उनके बच्चों को शिक्षा की मुख्यधारा में लाने का ऐसा कोई प्रयास होता है तो वे उसे सहयोग देने को तत्पर हैं।

अब आप उन्हें बताइये कि सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा प्रस्तावित पाठ्य पुस्तकों में क्या कमियां हैं? कि न्यूनतम अधिगम स्तर के अन्तर्गत तैयार की गयी पाठ्यपुस्तकों की क्या विशेषताएं हैं ? और यह कि ये पुस्तकें आपके बच्चों को मुख्य धारा से काट नहीं रहीं ? इस तीसरे सवाल को उन्हें अच्छे से समझाना होगा । भले ही आप न्यूनतम अधिगम स्तर की धारणा के आलोचक और किसी 'अधिकतम अधिगम स्तर' के समर्थक शिक्षाविद् है । शिक्षा के किसी भी नवाचार का मामला हो, लोग सरकार द्वारा स्थापित शिक्षा प्रणाली के संदर्भ में ही उस पर विचार करना चाहेंगे और आश्वस्त होना चाहेंगे कि अंतत: उनके बच्चे आप के शैक्षिक प्रयत्नों की मदद से ही सही, स्थापित प्रणाली में किसी हद तक अपनी पहुंच बनाने में सफल हो जायेंगे ।

तो क्या हम यह मान लें कि स्थापित शिक्षा प्रणाली को सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त है ? यदि ऐसा होता तो फिर सहभागिता को लेकर इतना हो-हल्ला ही नहीं होता । सभी लोग खुशी खुशी अपने बच्चों को स्कूल भेजते । तब बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों की समस्या भी इतने विकराल रूप में सामने नहीं आती। संक्षेप में कहें तो अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए मां-बाप को राजी करने के प्रयत्न की जरूरत नहीं होती । ये डर भी नहीं होता कि वे बचों से बीच में ही स्कूल छुड़ा लेंगे।

फिर शायद स्कूल ठीक ठाक चल रहा है या नहीं इसके लिए भी अतिरिक्त चिंता करने की जरूरत नहीं पड़ती । लेकिन हम देखते हैं कि ऐसा नहीं है और बड़े पैमाने पर नहीं है। असल में स्थापित शिक्षा प्रणाली के समर्थन अथवा खिलाफत का तो मुद्दा ही नहीं है - लोगों के लिए, वह तो बस स्थापित है और रहेगी। सर्वसाधारण की नजर में यह शिक्षा प्रणाली बहुत दृढ़ता से स्थापित है । और शिक्षा में जनसहभागिता के सभी रूप इस शिक्षा-तंत्र की सापेक्षता में उभरते हैं ।

शिक्षा प्रणाली के प्रतियोगी चरित्र ने इसमें ठीक वैसे ही स्तर भेद खड़े कर दिए हैं जैसे कि वे सामाजिक संरचना में विद्यमान हैं । समाज के जिन वर्ग और समुदायों ने अपनी बदहाली को लगभग नियति की ही तरह स्वीकार कर लिया है, वही वर्ग अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति उदासीन हैं । यहां हम शिक्षा सुविधाओं की अनुपलब्धता को भी इन वर्ग समुदायों की स्थिति से ही जोड़ना चाहेंगे । यदि यहां स्कूल उपलब्ध नहीं है या उसमें नियुक्त शिक्षक नियमित नहीं है तो यह भी इन वर्ग-समुदायों की हताशा अथवा इनकी आवाज की क्षीणता को ही द्योतित करता है । निश्चय ही, यहां शैक्षिक उपक्रमों में लोगों की सहभागिता हासिल करने के लिए उन्हें झकझोरने और उनमें आकांक्षा जगाने की जरूरत सबसे पहले हैं ।

इसी परिप्रेक्ष्य में बालिका शिक्षा को देखा जा सकता है । जहां महिलाओं का कार्य और सम्पर्क क्षेत्र समुदाय द्वारा सीमित आंका हुआ है, वहां बालिका शिक्षा को लेकर उदासीनता पायी जाती है। वंचित समुदायों में बालिकाओं की ही नहीं बल्कि सभी बच्चों की शिक्षा बाहरी प्रयत्नों और उत्प्रेरणों के बावजूद 'साक्षरता' में 'रिड्यूस' होकर रह जाती है । क्योंकि वास्तव में, शिक्षा से इससे अधिक अपेक्षा इन वर्ग समुदायों की होती ही नहीं ।

प्राथमिक स्तर पर ही तीन तरह के शिक्षा भेदों में हम जन सहभागिता की भिन्न स्थिति पाते हैं । सरकार द्वारा संचालित शिक्षा तंत्र में लोगों की सहभागिता सामान्यत: औपचारिक मात्र है । स्थानीय समुदाय द्वारा किसी भी सरकारी स्कूल या उसके शिक्षक को प्रभावित कर पाना आसान नहीं है । केवल राजनैतिक प्रभाव से ही यहां कुछ किया जा सकता है । आप यदि राजनैतिक दबाव रखते हैं, तो एक नया प्राथमिक स्कूल खुलवा सकते हैं, प्राथमिक को उच्च प्राथमिक में प्रोन्नत करवा सकते हैं और अवांछित शिक्षक का तबादला या वांछित की नियुक्ति करा सकते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि देश की इस वृहदकाय प्रणाली को यह दृढ़ता राज्य सत्ता के संरक्षण के कारण ही संभव हुई है। राज्य सत्ता इस प्रणाली की रीति नीति तय करती है । विभिन्न आयोगों और विशेषज्ञ समितियों के जरिये यह सब किया जाता है । पाठ्यक्रम निर्माण और परीक्षाएं आयोजित करने के लिए परिषद और बोर्ड है । इस तंत्र में स्कूल से लेकर राज्य सत्ता तक सार्वजनिक बहस और जन सहभागिता के आह्वान के बावजूद वास्तव में सहभागिता जैसा कुछ होता नहीं है । इस शिक्षा-तंत्र को आज तक कोई प्रबल चुनौती दे पाना संभव नहीं हुआ।

अब जरा निजी क्षेत्र के स्कूली-तंत्र का जायजा लें । यहां समुदाय की सहभागिता जैसी कोई चीज नहीं हैं । अलबत्ता अभिभावकों की सहभागिता के लिए कुछ अवकाश है। अभिभावकों पर अपनी पकड़ बनाये रखने के लिए अभिभावक समिति और अभिभावक दिवस (पेरेन्टस डे) है । उन्हें रोजमर्रा तौर पर बताया जाता है कि बच्चे को 'होमवर्क' में उन्हें क्या मदद करनी है । इस स्कूल द्वारा यदि अभिभावक को यह सलाह दी जाती है कि बच्चे को 'ट्यूटर' की आवश्यकता है तो अभिभावक उसे स्वीकार कर लेता है । असल में, यहां स्कूल प्रबंध और अभिभावकों के बीच दो तरफा सहमति है कि बच्चे को प्रतियोगिता की आगामी दौड़ के लिए इतना समर्थ बनाना है कि वह समाज के शिखर की तरफ अपने लिए कोई स्थान निर्धारित कर सके । निजी क्षेत्र की प्रणाली सरकार द्वारा संचालित प्रणाली की कमजोरियों का लाभ उठाती है । चूंकि निजी क्षेत्र के स्कूलों से निकले बच्चे कैरियर की

दौड़ में आगे जा रहे हैं, इसलिए समाज का सम्पन्न तबका इधर उन्मुख है । यह उन्मुखीकरण जितना अधिक बढ़ता है, निजी क्षेत्र का वर्चस्व उतना ही बढ़ जाता है और अभिभावकों की हैसियत उतनी ही घट जाती है।

तीसरा क्षेत्र विगत कुछ वर्षों से ही चर्चा में आया है । प्राथमिक शिक्षा के व्यापक फैलाव के अन्तर्गत सरकार की मदद से एक समान्तर शिक्षा तंत्र खड़ा किया जा रहा है । इसमें अक्सर गैर सरकारी/स्वयंसेवी संस्थाओं की भी भागीदारी है । इन प्रयासों के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा के लिए जो स्कूल या केन्द्र खोले जा रहे हैं वे बहुत व्यवस्थित नहीं हैं । इन्हें संचालित करने के लिए जो शिक्षक-शिक्षिकाएं नियुक्त किये गये हैं उन्हें ठीक ही 'अर्द्ध शिक्षक' (पेरा टीचर) कहा गया है क्योंकि योग्यता (स्कूली पढ़ाई के संदर्भ में), प्रशिक्षण और पारिश्रमिक के लिहाज से ये सरकारी शिक्षकों से बहुत पीछे हैं । लेकिन सहभागिता के प्रसंग में यहां स्थित गुणात्मक रूप से भिन्न है । स्कूल के लिए स्थान मुहैया कराना हो, शिक्षक-शिक्षिका की नियुक्ति और उनके काम की निगरानी का मामला हो या बच्चों को नियमित स्कूल भेजना-स्थानीय समुदाय धीरे धीरे सक्रिय होने लगता है और स्कूल प्रबंध का काफी दायित्व अपने ऊपर ले लेता है । यहां जब लोगों की शिक्षा से अपेक्षाएं बढ़ने लगती हैं तब वे स्थापित प्रणाली से अपने यहां दी जा रही शिक्षा की तुलना करने लगते हैं और उसके लिए मांग करते हैं। ऐसे ही एक प्रसंग की हमने आरंभ में चर्चा की थी । यह सब इसलिए संभव हुआ कि यहां लोगों की 'सहभागिता के लिए पर्याप्त अवकाश' था। तंत्र यहां उतना कठोर नहीं था जैसा कि सरकारी या निजी क्षेत्र का है । कुछ लोग इसे 'लचीला' मान सकते हैं, लेकिन असल में यह 'कमजोर' और अस्थायी प्रकृति का है । यह स्थापित प्रणाली से भिन्न और समान्तर दीखता है जबकि है उसी का पूरक । मसलन, न्यूनतम अधिगम स्तर की पाठ्यपुस्तकें इस स्थापित तंत्र की पाठ्य पुस्तकों से मूलत: विलग नहीं हैं। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय नवाचार की तमाम धाराएं आगे चलकर शिक्षा की स्थापित मुख्यधारा में ही समा जाती हैं ।

विवरण का यह खाका बताता है कि शिक्षा की जो प्रणाली हमें ब्रिटिश हुकूमत से विरासत में मिली है, उसका मूल स्वरूप अभी तक बरकरार है । इस प्रणाली को जनसाधारण की 'सहमति' भले ही हासिल नहीं हो लेकिन यह दृढ़ता से 'आरोपित' है । चूंकि यह वैयक्तिक स्तर पर सामाजिक वर्गान्तरण का एक प्रमुख माध्यम है, अत: मध्यवर्ग ही नहीं निचले तबके भी इस प्रतियोगिता में अपना भाग्य आजमाते हैं । निजी शिक्षा तंत्र सम्पन्न और वर्चस्वशाली तबके को अपनी हैसियत बनाये रखने में मदद करता है ।

देश की श्रेणीबद्ध विषम सामाजिक संरचना को जिस तरह चुनौती दे पाना मुश्किल है, उसी तरह इस विषम और पिरामिड रूपी शिक्षा-प्रणाली को बदलना जन साधारण के लिए कल्पना से परे है । इस स्थिति ने शिक्षा का 'औपनिवेशिक चरित्र' बनाये रखा है । इस दशक में सामाजिक न्याय के लिए उभरे दलितों, आदिवासियों और महिलाओं के संघर्षो ने शिक्षा में जन-सहभागिता को सबसे प्रभावशाली रूप में बढ़ावा दिया है । किंतु शिक्षा राजनैतिक हल्कों में भले ही चर्चा में है, विदेशी वित्त-प्रवाह भी इस क्षेत्र में बढ़ा है लेकिन अभी यह 'सोशल एजेंडा' में शामिल नहीं है । प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए संसद में विधेयक का मुद्दा हो या लोक व्यापीकरण की चिंताएं- ये प्रयास विडंबनाजनक रूप से अभी तक शिक्षाविदों और उच्च शिक्षितों तक ही सीमित हैं। हालांकि यह अच्छा संकेत है कि शिक्षा के लिए 'सिटीजन्स चार्टर' बने हैं किंतु इन्हें कथित 'जन सम्मत शिक्षाक्रमों' से अलगाना होगा । सही मायनों में जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के बिना शिक्षा में जन सहभागिता संभव नहीं है और इसके लिए शिक्षा की एक जनतांत्रिक प्रणाली-वैकल्पिक स्वरूप को जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करना होगा जो शिक्षा के लक्ष्य को पुनर्परिभाषित करे, उसकी पद्धति और विषय वस्तु की पुर्नरचना करे । जाहिर है कि शिक्षा में जनसहभागिता का प्रश्न इस दिशा में विमर्श की शुरुआत है । ◆